International Journal Of Multidisciplinary Research In Science, Engineering And Technology (IJMRSET)
Volume 2, Issue 8, August 2019

प्राचीन भारत में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

डॉ. पंकज गौर

सहायक आचार्य, इतिहास, राजकीय कन्या महाविद्यालय, अजमेर

सार

प्राचीन काल में शिक्षक को ही गुरु या आचार्य मानते थे और वहां शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को उसका परिवार माना जाता था। गुरुकुल के छात्रों को लिए आठ साल का होना अनिवार्य था और पच्चीस वर्ष की आयु तक लोग यहां रहकर शिक्षा प्राप्त और ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। ऐसे विद्यालय जहाँ विद्यार्थी अपने परिवार से दूर गुरू के परिवार का हिस्सा बनकर शिक्षा प्राप्त करता है। भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसे विद्यालयों का बहुत महत्व था। प्रसिद्ध आचार्यों के गुरुकुल में पढ़े हुए छात्रों का सब जगह बहुत सम्मान होता था। राम ने ऋषि वशिष्ठ के यहाँ रह कर शिक्षा प्राप्त की थी। इसी प्रकार पाण्डवों ने ऋषि द्रोण के यहाँ रह कर शिक्षा प्राप्त की थी।प्राचीन भारत के गुरूकुलों के अंतर्गत तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ थीं-

(१) गुरुकुल- जहाँ विद्यार्थी आश्रम में गुरु के साथ रहकर विद्याध्ययन करते थे,

(२) परिषद- जहाँ विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा दी जाती थी,

(३) तपस्थली- जहाँ बड़े-बड़े सम्मेलन होते थे और सभाओं तथा प्रवचनों से ज्ञान अर्जन होता था।

नैमिषारण्य ऐसा ही एक स्थान था। गुरुकुल आश्रमों में अनादिकाल से ही करोड़ों विद्यार्थी विद्या-अध्ययन करते रहे हैं। भारतवर्ष के गुरुकुल आश्रमों के आचार्यों को उपाध्याय और प्रधान आचार्य को 'कुलपति' या महोउपाध्याय कहा जाता था । रामायण काल में वशिष्ठ का बृहद् आश्रम था जहाँ राजा दिलीप तपश्चर्या करने गये थे, जहाँ विश्वामित्र को ब्रह्मत्व प्राप्त हुआ था। इस प्रकार का एक और प्रसिद्ध आश्रम प्रयाग में भारद्वाज मुनि का था।

परिचय

'गुरुकुल' का शाब्दिक अर्थ है 'गुरु का परिवार' अथवा 'गुरु का वंश'। परन्तु यह सदियों से भारतवर्ष में शिक्षासंस्था के अर्थ में व्यवहृत होता रहा है। गुरुकुलों के इतिहास में भारत की शिक्षाव्यवस्था और ज्ञानविज्ञान की रक्षा का इतिहास समाहित है। भारतीय संस्कृति के विकास में चार पुरुषार्थों, चार वर्णो और चार आश्रमों की मान्यताएँ तो अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अन्योन्याश्रित थी ही, गुरुकुल भी उनकी सफलता में बहुत बड़े साधक थे।

यज्ञ और संस्कारों द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य और शूद्र सभी कुल, वर्ण और समाज के बालक 6, 8 अथवा 11 वर्ष की अवस्थाओं में गुरुकुलों में ले जाए जाते थे (यज्ञोपवीत, उपनयन अथवा उपवीत) और गुरु के पास बैठकर ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु उनके मानस और बौद्धिक संस्कारों को पूर्ण करता हुआ उन्हें सभी शास्त्रों एवं उपयोगी विद्याओं की शिक्षा देता तथ अंत में दीक्षा देकर उन्हें विवाह कर गृहस्थाश्रम के विविध कर्तव्यों का पालन करने के लिए वापस भेजता। यह दीक्षित और समावर्तित स्नातक ही पूर्ण नागरिक होता और समाज के विभिन्न उत्तरदायित्वों का वहन करता हुआ त्रिवर्ग की प्राप्ति का उपाय करता। स्पष्ट है, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में गुरुकुलों का महत्वपूर्ण योग था। गुरुकुल प्रायः ब्राह्मण गृहस्थों द्वारा गाँवों अथवा नगरों के भीतर तथा बाहर दोनों ही स्थानों में चलाए जाते थे। गृहस्थ विद्वान और कभी कभी वानप्रस्थी भी दूर-दूर से शिक्षार्थियों को आकृष्ट करते और अपने परिवार में और अपने साथ रखकर अनेक वर्षों तक (आदर्श और विधान पच्चीस वर्षों तक का था) उन्हें शिक्षा देते। पुरस्कार स्वरुप ब्रह्मचारी बालक या तो अपनी सेवाएँ गुरू और उसके परिवार को अर्पित करता या संपन्न होने की अवस्था में अर्थशुल्क ही दे

देता। परंतु ऐसे आर्थिक पुरस्कार और अन्य वस्तुओं वाले उपहार दीक्षा के बाद ही दक्षिणास्वरूप दिए जाते और गुरु विद्यादान प्रारम्भ करने के पूर्व न तो आगंतुक विद्यार्थियों से कुछ माँगता और न उनके बिना किसी विद्यार्थी को अपने द्वार से लौटाता ही था। धनी और गरीब सभी योग्य विद्यार्थियों के लिए गुरुकुलों के द्वार खुले रहते थे। उनके भीतर का जीवन सादा, श्रद्धापूर्ण, भक्तिपरक और त्यागमय होता था। शिष्य गुरु का अंतेवासी होकर (पास रहकर) उसके व्यक्तित्व और आचरण से सीखता। गुरु और शिष्य के आपसी व्यवहारों की एक संहिता होती और उसका पूर्णत: पालन किया जाता। गुरुकुलों में तब तक जाने हुए सभी प्रकार के शास्त्र और विज्ञान पढ़ाए जाते और शिक्षा पूर्ण हो जाने पर गुरु शिष्य की परीक्षा लेता, दीक्षा देता और समावर्तन संस्कार संपन्न कर उसे अपने परिवार को भेजता। शिष्यगण चलते समय अपनी शक्ति के अनुसार गुरु को दक्षिणा देते, किंतु गरीब विद्यार्थी उससे मुक्त भी कर दिए जाते थे।[1]

भारतवर्ष में गुरुकुलों की व्यवस्था बहुत दिनों तक जारी रही। राज्य अपना यह कर्तव्य समझता था कि गुरुओं और गुरुकुलों के भरण पोषण की सारी व्यवस्था करें। वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने अत्यन्त गरीब होते हुए भी उनसे कुछ दक्षिणा लेने का जब आग्रह किया तो गुरु ने क्रुद्ध होकर एक असंभव राशि चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ-माँग दीं। कौत्स ने राजा रघु से वह धनराशि पाना अपना अधिकार समझा और यज्ञ में सब कुछ दान दे देने वाले उस अकिंचन राजा ने उस ब्राह्मण बालक की माँग पूरी करने के लिए कुबेर पर आक्रमण करने की ठानी। रघुवंश की इस कथा में अतिमानवीय पुट चाहे भले हों, शिक्षा संबंधी राजकर्तव्यों का यह पूर्णरूपेण द्योतक है। पालि साहित्य में ऐसी अनेक चर्चाएँ मिलती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि प्रसेनजित जैसे राजाओं ने उन वेदनिष्णात ब्राह्मणों को अनेक गाँव दान में दिए थे, जो वैदिक शिक्षा के वितरण के लिए गुरुकुल चलाते। यह परंपरा प्राय: अधिकांश शासकों ने आगे जारी रखी और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों को दान में दिये गए ग्रामों में चलने वाले गुरुकुलों और उनमें पढ़ाई जाने वाली विद्याओं के अनेक अभिलेखों में वर्णन मिलते हैं। गुरुकुलों के ही विकसित रूप तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला और वलभी के विश्वविद्यालय थे। जातकों, ह्वेनसांग के यात्राविवरण तथा अन्य अनेक संदर्भों से ज्ञात होता है कि उन विश्वविद्यालयों में दूर-दूर से विद्यार्थी वहाँ के विश्वविख्यात अध्यापकों से पढ़ने आते थे। वाराणसी अत्यन्त प्राचीन काल से शिक्षा का मुख्य केन्द्र थी और अभी हाल तक उसमें सैकड़ों गुरुकुल, पाठशालाएँ रही हैं और उनके भरण पोषण के लिए अन्नक्षेत्र चलते रहे। यही अवस्था बंगाल और नासिक तथा दक्षिण भारत के अनेक नगरों में रही। 19वीं शताब्दी में प्रारंभ होने वाले भारतीय राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग में प्राचीन गुरुकुलों की परम्परा पर अनेक गुरुकुल स्थापित किए गए और राष्ट्रभावना के प्रसार में उनका महत्वपूर्ण योग रहा। यद्यपि आधुनिक अवस्थाओं में प्राचीन गुरुकुलों की व्यवस्था को यथावत पुन: प्रतिष्ठित तो नहीं किया जा सकता, तथापि उनके आदर्शों को यथावश्यक परिवर्तन के साथ अवश्य अपनाया जा सकता है।प्राचीन भारतीय गुरुकुलों में कुलपति हुआ करते थे। कालिदास ने वशिष्ठ तथा कण्व ऋषि को (रघुवंश, प्रथम, 95 तथा अभि° शा°, प्रथम अंक) कुलपति की संज्ञा दी है। गुप्तकाल में संस्थापित तथा हर्षवर्धन के समय में अपनी चरमोन्नति को प्राप्त होने वाले नालंदा महाविहार नामक विश्वविद्यालय के कुछ प्रसिद्ध तथा विद्वान कुलपतियों के नाम ह्वेन्सांग के यात्राविवरण से ज्ञात होता हैं। बौद्ध भिक्षु धर्मपाल तथा शीलभद्र उनमें प्रमुख थे।

International Journal Of Multidisciplinary Research In Science, Engineering And Technology (IJMRSET)
Volume 2, Issue 8, August 2019

प्राचीन भारतीय काल में अध्ययन अध्यापन के प्रधान केंद्र गुरुकुल हुआ करते थे, जहाँ दूर-दूर से ब्रह्मचारी विद्यार्थी, अथवा सत्यान्वेषी परिव्राजक अपनी अपनी शिक्षाओं को पूर्ण करने जाते थे। वे गुरुकुल छोटे अथवा बड़े सभी प्रकार के होते थे। परंतु उन सभी गुरुकुलों को न तो आधुनिक शब्दावली में विश्वविद्यालय ही कहा जा सकता है और न उन सबके प्रधान गुरुओं को कुलपति ही कहा जाता था। स्मृतिवचनों के अनुसार

'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादि पोषाणात। अध्यायपति विप्रर्षिरसौ कुलपति: स्मृत:।'

स्पष्ट है, जो ब्राह्मण ऋषि दस हजार मुनि विद्यार्थियों को अन्नादि द्वारा पोषण करता हुआ उन्हें विद्या पढ़ाता था, उसे ही कुलपति कहते थे। ऊपर उद्धृत 'स्मृतः' शब्द के प्रयोग से यह साफ दिखाई देता है कि कुलपति के इस विशिष्टार्थग्रहण की परंपरा बड़ी पुरानी थी। कुलपति का साधारण अर्थ किसी कुल का स्वामी होता था। वह कुल या तो एक छोटा और अविभक्त परिवार हो सकता था अथवा एक बड़ा और कई छोटे-छोटे परिवारों का समान उद्गम वंशकुल भी। अंतेवासी विद्यार्थी कुलपति के महान विद्यापरिवार का सदस्य होता था और उसके मानसिक और बौद्धिक विकास का उत्तरदायित्व कुलपति पर होता था; वह छात्रों के शारीरिक स्वास्थ्य और सुख की भी चिंता करता था। आजकल इस शब्द का प्रयोग विश्वविद्यालय के 'वाइसचांसलर' के लिए किया जाता है।[2]

अवलोकन

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रुप में स्वीकार किया है। जैसे-जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे-वैसे शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएँ सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारम्भ की गई थी।

गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। वनों में गुरुकुल बहुत कम होते थे। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सन्दीपनि, कण्व आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहाँ दर्शन शास्त्रों के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। अधिकांश गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी वाग अथवा वाटिला में बनाये जाते थे। जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। इससे दो लाभ थे; एक तो गृहस्थ आचार्यों को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरे ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन में अधिक भटकना नहीं पड़ता था। मनु के अनुसार `ब्रह्मचारों को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहाँ से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले, तो पूर्व-पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुकुल गांवों के सन्निकट ही होते थे। स्वजातियों से भिक्षा याचना करने में उनके पक्षपात तथा ब्रह्मचारी के गृह की ओर आकर्षण का भय भी रहता था अतएव स्वजातियों से भिक्षा-याचना का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकर विद्वान् पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे और अधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे, जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, धारा, तंजोर आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान् आकृष्ट होते थे। फलत: काशी, कर्नाटक, नासिक आदि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये।[3]

कभी-कभी राजा भी अनेक विद्वानों को आमंत्रित करके दान में भूमि आदि देकर तथा जीविका निश्चित करके उन्हें बसा लेते थे। उनके बसने से वहाँ एक नया गाँव बन जाता था। इन गाँवों को `अग्रहार' कहते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों एवं मठों के आचार्यों के प्रभाव से ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग मठ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के मठ प्रसिद्ध हैं। सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएँ सर्वप्रथम बौद्ध विहारों में स्थापित हुई थीं। भगवान बुद्ध ने उपासकों की शिक्षा-दीक्षा पर अत्यधिक बल दिया। इस संस्थाओं में धार्मिक ग्रन्थों का अध्यापन एवं आध्यात्मिक अभ्यास कराया जाता था। अशोक (300 ई° पू°) ने बौद्ध विहारों की विशेष उन्नति करायी। कुछ समय पश्चात् ये विद्या के महान केन्द्र बन गये। ये वस्तुत: गुरुकुलों के ही समान थे। किन्तु इनमें गुरु किसी एक कुल का प्रतिनिधि न होकर सारे विहार का ही प्रधान होता था। ये धर्म प्रचार की दृष्टि से जनसाधारण के लिए भी सुलभ थे। इनमें नालन्दा विश्वविद्यालय (450 ई°), वल्लभी (700 ई.), विक्रमशिला (800 ई°) प्रमुख शिक्षण संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं का अनुसरण करके हिन्दुओं ने भी मन्दिरों में विद्यालय खोले जो आगे चल कर मठों के रूप में परिवर्तित हो गये।

वेदों में उल्लिखित कुछ मन्त्र इस बात को रेखांकित करते है कि कुमारियों के लिए शिक्षा अपरिहार्य एवं महत्वपूर्ण मानी जाती थी। स्त्रियों को लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थी। सहशिक्षा को बुरा नहीं समझा जाता था। गोभिल गृहसूत्र में कहा गया है कि अशिक्षित पत्नी यज्ञ करने में समर्थ नहीं होती थी। संगीत शिक्षा पर जोर दिया जाता था।[4]

इच्छा और योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्ति के लिए श्रमणक्रमणिका में उल्लिखित प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋग्वेद की रचना में २०० स्त्रियों का योगदान है। शकुन्तला राव शास्त्री ने इसे तीन कोटि में विभाजित किया है। (१) महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक, (२) आंशिक रूप से महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक एवं (३) महिला ऋषिकाओं को समर्पित श्लोक। ऋग्वेद के दशम मंडल के ३९ एवं ४० सूक्त की ऋषिका घोषा, रोमशा, विश्ववारा, इन्द्राणी, शची और अपाला थी।वैदिक युग में स्त्रियाँ यज्ञोपवीत धारण कर वेदाध्ययन एवं सायं- प्रात होम आदि कर्म करती थी। शतपथ ब्राह्मण में व्रतोपनयन का उल्लेख है। हरित संहिता के अनुसार वैदिक काल में शिक्षा ग्रहण करने वाली दो प्रकार की कन्याएँ होती थी - ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवात्। सद्योवात् 15 या 16 वर्ष की उम्र तक, जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता था, तब तक अध्ययन करती थी। इन्हें प्रार्थना एवं यज्ञों के लिए आवश्यक महत्वपूर्ण वैदिक मंत्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत एवं नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी।महावीर और गौतम बुद्ध ने संघ मे नारियों के प्रवेश की अनुमति दी थी, ये धर्म और दर्शन के मनन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं। जैन और बौद्व सहित्य से पता चलता है कि कुछ भिक्षुणियों ने साहित्य के विकास और शिक्षा में अपूर्व योगदान दिया जिसमें अशोक की पुत्री संघमित्रा प्रमुख थी। यहाँ बौद्ध आगमों की महान शिक्षिकाओं के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। जैन साहित्य से जयंती नामक महिला का पता चलता है जो धर्म और दर्शन के ज्ञान की प्यास में अविवाहित रही और अंत में भिक्षुणी हो गई।

हाल की गाथासप्तशती में सात कवयित्रियों की रचनाएँ संग्रहीत है। शीलभट्टारिका अपनी सरल तथा प्रासादयुक्त शैली तथा शब्द और अर्थ के सामंजस्य के लिए प्रसिद्ध थी। देवी लाट प्रदेश की कवियित्री थी। विदर्भ में विजयांका की कीर्ति की समता केवल कालिदास ही कर सकते थे। अवंतीसुन्दरी कवियत्री और टीकाकार देनों ही थी। कतिपय महिलाओं ने आयुर्वेद पर पांडित्यपूर्ण और प्रामाणिक रचनायें की हैं जिनमें रुसा का नाम बड़ा प्रसिद्ध है।आलोच्य काल में नारियों के लिए किसी प्रकार की पाठशाला का पृथक्-प्रबन्ध किया गया हो ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता। बौद्धों ने अपने विहारों में भिक्षुणियों की शिक्षा की व्यवस्था की थी किन्तु कालान्तर में उसके भी उदाहरण प्राप्त नहीं होते। वस्तुत: कन्याओं के लिए पृथक् पाठशालाएँ न थीं। जिन कन्याओं को गुरुकुल में अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता था वे पुरुषों के साथ ही अध्ययन करती थीं। उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में आत्रेयी अध्ययन कर रही थी। भवभूति ने `मालती माधव' (प्रथमांक) में कामन्दकी के गुरुकुल में अध्ययन करने का वर्णन किया है। किन्तु ये उदाहरण बहुत कम हैं। अधिकतर गुरुपत्नी, गुरुकन्या अथवा गुरु की पुत्रवधू ही गुरुकुल में रहने के कारण अध्ययन का लाभ उठा पाती थीं वस्तुत: शास्त्रों के अनुरोध पर कन्याओं की शिक्षा गृह पर ही होती थी।[5]

International Journal Of Multidisciplinary Research In Science, Engineering And Technology (IJMRSET)
Volume 2, Issue 8, August 2019

विचार – विमर्श

प्राचीन भारत में गुरु के प्रत्यक्ष निरीक्षण में रहकर विद्योपार्जन श्रेष्ठ माना जाता था। अतएव अधिकांश विद्यार्थी गुरु कुलों में ही रहते थे। गुरु जन अपने घर पर ही विद्यार्थी के आवास-निवास की व्यवस्था करते थे। भोजन का कार्य भिक्षा वृत्ति द्वारा चलता था अथवा अध्यापक के गृह में भी व्यवस्था हो जाती थीं। उस समय एक गुरु के पास एक साथ प्राय: पन्द्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं पढ़ते थे। कभी-कभी तो केवल चार विद्यार्थी ही एक गुरु के अधीन अध्ययन करते थे। अतएव उनके भोजन व निवास की व्यवस्था करना गुरु के लिए कोई कठिन कार्य नहीं होता था। किन्तु गुरु के विद्यार्थियों का प्रबन्ध करने में असमर्थ होने पर विद्यार्थी अपने रहने का प्रबन्ध स्वयं करते थे।अध्यापन कार्य में विद्यार्थी से धन मांगना अध्यापक के लिए अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। गुरु निर्धन से निर्धन विद्यार्थी को भी पढ़ाने से मना नहीं कर सकता था। जो गुरु विद्या के लिए मोल-भाव करता था उसको विद्या का व्यवसायी कह कर हेय समझा जाता था। ऐसे अध्यापकों को धार्मिक अवसरों पर ऋत्विक के कार्य के अयोग्य कहा गया। किन्तु गुरु के पढ़ाये हुए एक ही अक्षर द्वारा शिष्य उसका ऋणी समझा जाता था। अतएव समावर्तन के अवसर पर शिष्य गुरु-दक्षिणा के रूप में सामर्थ्यानुसार गुरु को धन देते थे। जो अत्यन्त निर्धन होते थे वे गुरु की गृहस्थी में सेवा-कार्य करके तथा समावर्तन के समय भिक्षा मांग कर गुरु दक्षिणा देते थे। वस्तुत: राजा और प्रजा दोनों का कर्त्तव्य था कि वे विद्वान आचार्यों एवं शिक्षण संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दें।

प्रागैतिहासिक काल में साहित्यिक तथा व्यावसायिक हर प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था परिवार में ही होती थी। ऐसी अवस्था में सम्भवत: सगे भाई-बहन तथा चचेरे भाई-बहन सम्मिलित होकर ही परिवार के शिक्षित अग्रजनों के संरक्षण में विद्योपार्जन करते रहे होगे। किन्तु धीरे-धीरे विद्या के भण्डार में प्रचुर वृद्धि हो जाने से विशेषाध्ययन की ओर लोगों की रुचि बढ़ने लगी। अतएव विद्यार्थियों के लिए परिवार से दूरस्थ स्थानों पर जाकर प्रतिष्ठित विद्वानों के संरक्षण में वांछित विषयों का अध्ययन करना आवश्यक हो गया। प्राय: कन्याओं को भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए घर के बाहर विद्वान् आचार्यों के पास जाना पड़ता था। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारे ग्रन्थों से बहुत कम संकेत प्राप्त होते हैं।

उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ पढ़ने वाली आत्रेयी नामक स्त्री का उल्लेख हुआ है। जो इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि उस युग में सह-शिक्षा का प्रचार था। इसी प्रकार `मालती-माधव' में भी भवभूति ने भूरिवसु एवं देवराट के साथ कामन्दकी नामक स्त्री के एक ही पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने का वर्णन किया है। भवभूति आठवी शताब्दी के कवि हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यदि भवभूति के समय में नहीं तो उनसे कुछ समय पूर्व तक बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा का प्रचलन अवश्य रहा होगा। इसी प्रकार पुराणों में कहोद और सुजाता, रूहु और प्रमदवरा की कथाएं वर्णित हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कन्याएं बालकों के साथ-साथ पाठशालाओं में पढ़ती थीं तथा उनका विवाह युवती हो जाने पर होता था। परिणामत: कभी-कभी गान्धर्व विवाह भी हो जाते थे। ये समस्त प्रमाण इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि उस युग में स्त्रियाँ बिना पर्दे के पुरुषों के बीच रह कर ज्ञान की प्राप्ति कर सकती थीं। उस युग में सहशिक्षा-प्रणाली का अस्तित्व भी इनसे सिद्ध होता है। गुरुकुलों में सहशिक्षा का प्रचार था, इस धारणा का समर्थन आश्वलायन गृह ससूत्र में वर् णित समावर्तन संस्कार की विधि से भी मिलता है। इस विधि में स्नातक के अनुलेपन क्रिया के वर्णन में बालक एवं बालिका का समार्वतन संस्कार साथ-साथ सम्पन्न होना पाया जाता है। उस युग में स्त्री के ब्रह्मचर्याश्रम, वेदाध्ययन तथा समावर्तन संस्कार का औचित्य आश्वलायन के मतानुसार प्रमाणित हो जाता है।

पूर्व काल में जब बड़ी संख्या में स्त्रियां उच्च शिक्षा ग्रहण कर रही थीं और अपना अमूल्य योगदान देकर साहित्य के गौरव को बढ़ा रही थीं, उस समय उनमें से कुछ अध्यापन कार्य भी अवश्य ही करती होंगी। संस्कृत साहित्य में उपाध्याया एवं उपाध्यायानी शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। उपाध्याय की पत्नी को आदर पूर्वक उपाध्यायानी कहा गया है, किन्तु उपाध्याया उन विदुषी नारियों के लिये प्रयुक्त हुआ है जो अध्यापन कार्य करती थीं। महिला शिक्षिकाओं का बोध कराने वाले एक अन्य शब्द की रचना करने की आवश्यकता पड़ना तभी सम्भव रहा होगा जबकि महिला शिक्षिकाएँ पर्याप्त संख्या में रही हों। इसके अतिरिक्त पर्दाप्रथा बारहवीं शताब्दी के बाद भारतीय समाज में आयी, अतएवं स्त्रियों के लिए अध्यापन कार्य में किसी प्रकार के बन्धन की सम्भावना भी न थी। हो सकता है ये उपाध्यायाएँ केवल कन्याओं को ही पढ़ाती रही हों अथवा बालक-बालिकाओं दोनों को। पाणिनि ने भी आचार्य एवं आचार्यानी के अन्तर को स्पष्ट किया है तथा छात्रीशालाओं का उल्लेख किया है। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्याएँ इन छात्रीशालाओं की संरक्षि-काएँ भी होती होंगी। रामदास गौड़ ने लिखा है- `हर्ष के बाद सातवीं-आठवीं शती में भी स्त्रियों के अध्यापन कार्य का पता मिलता है। शंकराचार्य से हार जाने के फलस्वरूप अपने पति मण्डन मिश्र के सन्यास ले लेने पर उभयभारती श्रृंगगिरि में अध्यापन कार्य करने लगी थी। कहा जाता है कि भारती द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही शृंगेरी और द्वारका के मठों का शिष्य सम्प्रदाय `भारती' नाम से अभिहित हुआ। किन्तु फिर भी स्थान की कमी एवं असुविधाओं के कारण अधिकांश कन्याएँ घर पर ही पढ़ती होंगी तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने का साहस न कर पाती होंगी। सम्भवत: इसी कारण इन छात्राशालाओं एवं उपाध्यायाओं के सम्बन्ध में अधिक विवरण प्राप्त नहीं होते। यद्यपि इस काल में मैत्रेयी, गार्गी, विश्ववारा एवं लीला-वती के समान उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएँ थी, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस युग में स्त्री शिक्षा का पर्याप्त प्रचलन था अथवा स्त्री-शिक्षा अपने संगठित रूप में विद्यमान थी। इस सम्बन्ध में एल। मुकर्जी के अनुसार--`यह सम्भव है कि इस युग में स्त्रियों के लिए शिक्षा की कोई संगठित व्यवस्था नहीं थीं।[6]

सम्भवत: जब समाज में योग्य उपाध्यायाएँ प्राप्त हो जाती होंगी तब उन्हीं के संरक्षण में कन्याओं को भेजा जाता होगा किन्तु इनके उपलब्ध न होने पर बाध्य होकर आचार्यों के पास पुत्रियों की अध्ययनार्थ भेजना पड़ता होगा। जिस काल में गान्धर्व विवाह समाज में

असामान्य न था, सहशिक्षा में कन्याओं के अभिभावकों को कोई आपत्ति भी न रही होगी। किन्तु आगे चलकर गान्धर्व-विवाह से कन्याओं के नैतिक पतन की आशंका बढ़ने लगी। अतएव लोग घर पर ही शिक्षक नियुक्त करके कन्याओं की उच्च शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करने लगे। उच्च शिक्षा हेतु दूरस्थ आचार्यों के पास जाने वाली कन्याओं की सख्या भी अधिक न रही होगी क्योंकि जातकों में शिक्षा हेतु तक्षशिला जाने वाली बालिकाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ईसा की चौथी शताब्दी तक लड़कों के लिए भी सार्वजनिक पाठशालाएँ न थीं। हारीत ने व्यवस्था दी है कि कन्याओं की शिक्षा घर पर ही पिता, चाचा अथवा भाई द्वारा होनी चाहिए। इसी प्रकार मनु भी कन्याओं को पुरुष शिक्षकों के सरंक्षण में रखकर लड़कों के साथ अध्ययन करने के लिए घर से बाहर भेजने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि सह-शक्षा से कन्याओं का कौसार्यत्व नष्ट होने की आशंका बढ़ जाती है। स्त्री-शिक्षा का प्रथम संगठित प्रयास करने का श्रेय बौद्धो को प्राप्त है। बुद्ध ने संघ में नारियों के प्रवेश की अनुमति दे दी थी। बौद्धों ने विहारों में निवास करने वाली भिक्षुणियों के लिए शिक्षा की सन्तोषजनक व्यवस्था भी की थी। ब्रह्मवादिनियों के समान इनमें से बहुत-सी नारियों ने धर्म और दर्शन ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य पालन किया। इनमें से कुछ सिंहल देश भी गयी तथा वहाँ बौद्ध धर्म की महान शिक्षिकाओं के रूप में उन्होंने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। इन विहारों में ये नारियाँ सहशिक्षा ही ग्रहण करतीं थीं। किन्तु इन बौद्ध संघों में भी ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग नारी शिक्षा का पूर्ण ह्रास हो चुका था। कितनी प्रतिशत छात्राएँ सहशिक्षा ग्रहण करती होगी, इस प्रश्न का निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु निश्चय ही यह संख्या अधिक नहीं रही होगी। वर्तमान में वैदिक शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए बाबा रामदेव ने आचार्यकूलम की स्थापना की है। आचार्यकुलम की स्थापना करने के पीछे बाबा रामदेव का उद्देश्य है वैदिक और भारतीय शिक्षा को बढ़ावा मिले। आचार्यकुलम गुरुकुल पद्धति पर आधारित गुरुकुल शिक्षा के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा पद्धति का एक आवासीय शैक्षणिक संस्थान है, जो भारत देश के उत्तराखंड राज्य के हरिद्वार में स्थित है। इसकी सबसे खास बात है कि यहाँ 8 वीं तक 50 प्रतिशत वैदिक और 50 प्रतिशत सीबीएसई का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है। इसके बाद 8 वीं के 25 प्रतिशत वैदिक और 75 प्रतिशत सीबीएसई का सिलेबस होता है।साथ ही यह ऐसा पहला स्कूल है जहां विद्यार्थी को जितनी अंग्रेजी सिखाई जाती उतनी ही संस्कृत में भी पारंगत किया जाता है|हाल ही में आचार्यकुलम सीबीएसई बोर्ड से जुड़ा है। आचार्यकुलम में आधुनिक और वैदिक शिक्षा का अद्भुत संगम देखने को मिलता है, यहां एनसीईआरटी के पाठ्यक्रम के अलावा तीन पीरियड वैदिक शिक्षा के होते हैं। इनमें वेद, उपनिषद, संस्कृत, योग, हवन-पूजन आदि का ज्ञान दिया जाता है।[7]

परिणाम

प्राचीन भारतीय शिक्षा का इतिहास सहस्रों वर्षों की लम्बी अवधि में लिखा गया है। अत: यह अत्यन्त विशाल है। स्मृतियाँ संस्कृत साहित्य में परिवर्तनशील एक विशिष्ट काल की ओर संकेत करती हैं। उनके माध्यम से वैदिक काल से लेकर उनके अपने समय तक की समस्त साहित्यिक रचनाओं की श्रृंखला का पूर्वाभास कराया गया है। अतएव स्मृतिकालीन विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं सूत्रों के काल की समस्त मुख्य रचनाएँ थीं।

ईसा पूर्व पन्द्रह सौ शताब्दी तक अधिकांश वैदिक मन्त्रों के सम्पादन का कार्य पूर्ण हो चुका था। तत्पश्चात् वेदों के अर्थ-बोध के लिए जिन टीकात्मक एवं चर्चात्मक ग्रन्थों का विकास हुआ वे `ब्राह्मण' ग्रन्थों के नाम से प्रतिष्ठित हुए। इस काल के विद्वानों की प्रतिभा का उपयोग वेदों के स्वरूप की रक्षा एवं अर्थों के स्पष्टी-करण में किया गया, न कि नवीन साहित्यिक-रचनाओं के निरुपण में। फलत: वैदिक यज्ञों से सम्बनध अनेक सिद्धान्तों, मतवादों और रीतियों का विवेचन `ब्राह्मणों' में होने लगा। विद्वानों ने विशेष रूप से अपनी साधना का केन्द्र यज्ञों के कर्मकाण्ड को बनाया। परिणाम स्वरूप कर्मकाण्डों में जटिलता एवं दुरूहता आ गयी। दूसरी ओर वेदों की दार्शनिक प्रवृत्ति का विकास हुआ और उसने `उपनिषदों' के रूप में पूर्णता प्राप्त की।

कालानुक्रम से वेदातिरिक्त साहित्य में भी प्रचुर वृद्धि हुई। फलत: इस सतत वर्धमान साहित्य में पारंगत होना अकेले एक व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर हो गया। उस काल में मुद्रण कला का विकास नहीं हुआ था। अतएव वैदिक साहित्य के लोप हो जाने का भय सदा बना रहता था। साहित्य-सुरक्षा के दृष्टिकोण से अध्ययन क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। वैदिक पण्डितों में से कुछ को इस विशाल साहित्य को ज्यों का त्यों कण्ठस्थ करने का कार्य सौंपा गया, जिससे साहित्य का शुद्ध स्वरूप अक्षुण्ण बना रहे तथा अन्य विद्वानों की टीकाओं निरुक्तों और शब्दकोश आदि का अध्ययन करके इनकी व्याख्या करने में अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर दिया गया। इस काल में हिन्दू मेघा की सबसे अधक निर्णयात्मक एवं रचनात्मक प्रतिभा का प्रादुर्भाव हुआ। फलस्वरूप शिक्षा, दर्शन, न्याय, महाकाव्य, भाषाविज्ञान, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, कल्प, अनेकों कलाएँ, व्यावहारिक विद्या आदि के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुई। इन ग्रन्थों के विद्वानों ने अपने विद्यार्थीयों की सुगमता के लिए इन विषयों का नवीनीकरण करते हुए उन्हें सक्षेप में एकत्रि त कर दिया। उपनिषदों एवं सूत्रों के काल (ई. पू. प्रथम सहस्राब्दि) में लेखन कला का ज्ञान हो जाने पर भी इन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया क्योंकि वैदिक मन्त्रों को लिपि बद्ध करना अधार्मिक माना जाता था। इसी काल में वैदिक चरणों के आधारों पर विद्वानों ने धर्मसूत्रों में एक नवीन साहित्य की रचना भी कर डाली। उपर्युक्त संस्कृत-वाङ्मय के परिवर्तनशील इतिहास को दृष्टिगत करते हुए हम उसकी विविधता एवं विशालता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। स्मृतियों में इस समस्त बाङ्मय में वर्णित सामाजिक रीतियों, धार्मिक कर्मकाण्डों, एवं संस्कारों का सर्वेक्षण किया गया है। वस्तुत: स्मृतियाँ एक विशाल समाज को लक्ष्य करके ही निर्मित की गयी हैं। स्मृति ग्रन्थों में हम इसी साहित्य के उल्लेख की आशा भी रखते हैं। अतएव इनमें गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, उपनिषदों तथा मीमांसाओं में

पूर्व विद्यमान श्रेष्ठ प्रथाओं, रीतियों, मान्यताओं एवं संस्कारों का संकलन किया गया है। इस कार्य में जितनी सफलता मनुस्मृति ने प्राप्त की हैं उतनी अन्य किसी स्मृति ने नहीं। अत: यहां पर मनु स्मृति में संकेतित विषयों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

मनु ने तीनों वेदों को श्रुति कहा है। ये तीन वेद ही संस्कृत साहित्य की प्रथम कड़ी हैं। वैदिक मन्त्रों का विकास चरणों के रूप में हुआ जिनकी वांछित शाखाओं का ज्ञान पुरोहित वर्ग अवश्य प्राप्त करता था। मन्त्र, ब्राह्मण, शाखा को पढ़े हुए 'ऋग्वेदी'; वेदों के पारगामी, समस्त शाखाओं के ज्ञाता 'ऋत्विज्' तथा वेदों को पढ़कर पारंगत हुए विद्वान् ब्राह्मण को विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। जो ब्राह्मण तीन वेदों के ज्ञाता होते थे उन्हें 'त्रिवेदी' कहा जाता था।[8]

मनुस्मृति में अध्ययन के लिए वेदों के कुछ प्रमुख विशेष रूप से पारित किये गये हैं। वस्तुत: इस काल तक धार्मिक क्रियाओं एंव प्रायश्चितों द्वारा शुद्धीकरण की प्रक्रियाओं में अत्यन्त विस्तार हो गया था। अतएव विशिष्ट अवसरों पर वेदों की कुछ ऋचाओं के उच्चारण का महत्व भी बढ़ गया। मनु स्मृति में ऐसी ऋचाओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इनका उच्चारण पूर्ण सन्तुलन एवं नियम के साथ होना चाहिए जिससे पापों से मुक्ति पायी जा सके। ब्राह्मण अथर्ववेद की अंगिरस श्रुति का प्रयोग शत्रु के नाश के लिए शस्त्र के रूप में करते थे। स्नातकों के प्रतिदिन के स्वाध्याय पाठ में ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन का प्रोत्साहन दिया गया है। मनु ने ऐतरेय ब्राह्मण के `सुब्रह्मण्य' नामक मन्त्रों एवं ऐतरेय ब्राह्मण तथा बह् वृच ब्राह्मण में वर्णित शुन:शेप गाथा का भी उल्लेख किया है।[9,10]

निष्कर्ष

शिक्षा का दर्शन शिक्षा के लक्ष्य, रूपों, विधियों और अर्थ की जांच करता है । इस शब्द का उपयोग इन विषयों के मौलिक दार्शनिक विश्लेषण और विशेष शैक्षणिक दृष्टिकोणों के विवरण या विश्लेषण दोनों का वर्णन करने के लिए किया जाता है। पेशा व्यापक दार्शनिक या सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों से कैसे संबंधित है, इस पर विचार शामिल किए जा सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा का दर्शन शिक्षा के क्षेत्र और अनुप्रयुक्त दर्शन के साथ ओवरलैप करता है।उदाहरण के लिए, शिक्षा के दार्शनिक अध्ययन करते हैं कि पालन-पोषण और शिक्षा क्या है, पालन-पोषण और शैक्षिक प्रथाओं के माध्यम से प्रकट मूल्यों और मानदंडों, एक अकादमिक अनुशासन के रूप में शिक्षा की सीमा और वैधता, और शैक्षिक सिद्धांत और व्यवहार के बीच संबंध।विश्वविद्यालयों में, शिक्षा का दर्शन आमतौर पर शिक्षा के विभागों या कॉलेजों का हिस्सा होता है।[11]

संदर्भ

1. Noddings, Nel (1995). Philosophy of Education. Boulder, CO: Westview Press. पृ॰ 1. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 0-8133-8429-X.
2. ↑ Frankena, William K.; Raybeck, Nathan; Burbules, Nicholas (2002). "Philosophy of Education". प्रकाशित Guthrie, James W. (संपा॰). Encyclopedia of Education, 2nd edition. New York, NY: Macmillan Reference. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 0-02-865594-X.
3. ↑ Phillips, Trevor J. (2017-03-18). "Ch. III: Transactionalism in Contemporary Philosophy and Ch. V: The Educative Process". प्रकाशित Tibbels, Kirkland; Patterson, John (संपा॰). Transactionalism: An Historical and Interpretive Study (अंग्रेज़ी में). Independently published. पपृ॰ 163–205. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 9781520829319.
4. ↑ "Philosophy and Education". Teachers College - Columbia University (अंग्रेज़ी में). मूल से 2017-05-17 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2017-04-29.
5. ↑ "Philosophy of Education - Courses - NYU Steinhardt". steinhardt.nyu.edu (अंग्रेज़ी में). मूल से 2017-04-01 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2017-04-29.
6. ↑ "Doctor of Philosophy in Education". Harvard Graduate School of Education (अंग्रेज़ी में). मूल से 2017-04-20 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2017-04-29.
7. ↑ "Plato and Aristotle: An Introduction to Greek Philosophy | The Art of Manliness". The Art of Manliness (अंग्रेज़ी में). 2010-02-04. मूल से 2018-06-27 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2018-06-27.
8. ↑ "Plato: Phaedo | Internet Encyclopedia of Philosophy". www.iep.utm.edu (अंग्रेज़ी में). मूल से 2017-05-07 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2017-04-29.
9. ↑ "The Internet Classics Archive | Phaedo by Plato". classics.mit.edu. मूल से 2010-01-23 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2017-04-29.
10. "प्राचीन भारतीय शिक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था" (PDF). मूल से 11 मई 2018 को पुरालेखित (PDF). अभिगमन तिथि 11 मई 2018.
11. Prasad, Kalika (2000). Great Hindi dictionary . Varanasi India: Gyan Mandal Limited. p. 147. ^ "Mahamana's Dream". Abhyudaya.com. http://www.abhyuday.org/xprajna/html/bhanu_shankar.php "